सेवा-पूर्व शिक्षक तैयारी – पाठ्यचर्या, व्यवहार और वास्तविकता

हृदयकांत दीवान



शैक्षिक प्रक्रिया और विकास को बल देने के लिए शिक्षक बहुत ही महत्वपूर्ण हो गया है। यह दर्शाने के लिए पर्याप्त शोध उपलब्ध हैं कि बच्चों को व्यस्त और प्रक्रियाओं में शामिल रखने में सक्षम शिक्षक का स्वभाव, प्रोत्साहन और सामर्थ्य ज्ञानार्जन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वे शिक्षा के लिए एक कुंजी की तरह हैं। इसलिए उनकी तैयारी पर बल देना आवश्यक है। और इतना ही आवश्यक इस बात पर बल देना है कि उपलब्ध मौकों और स्थितियों से परिचय के आधार पर अनुभव के साथ आगे चलकर बेहतर प्रवृत्ति और अपनी गलतियाँ ठीक करने के साथ निरन्तर सीखना हो पाए। इसी सन्दर्भ में हम सेवा-पूर्व शिक्षक-तैयारी की पड़ताल करेंगे। हम शुरुआत करेंगे शिक्षक-तैयारी के ढाँचे और व्यवस्था के अवलोकन तथा विश्लेषण से। उसके बाद हम इसके महत्वपूर्ण तत्वों और चुनौतियों तथा सम्भावित विषयवस्तु और कार्यविधियों पर एक नजर डालेंगे।

शिक्षक-तैयारी बहुआयामी होती है। यहाँ हम कुछेक आयामों की ओर इशारा करेंगे तथा वर्तमान में प्रासंगिक और महत्वपूर्ण सरोकारों को उठाएँगे। पिछले कुछ दशकों में शिक्षकों को पुन: प्रशिक्षित करने के कई मिशन देखने में आए हैं। इसके पीछे दो मुख्य कारण रहे हैं। एक तो यह, कि शिक्षक स्वयं को तरोताजा कर पाएँ, अनुभव साझा कर पाएँ और सीख पाएँ; दूसरा यह, कि सेवा-पूर्व के दौरान उनके द्वारा सीखे गए विचार अब प्रचलित नहीं हैं और इसलिए नए सिद्धान्तों और विचारों के सम्पर्क में आने की आवश्यकता है। दोनों ही बातें वाजिब हैं और सेवा-पूर्व तैयारी के बारे में महत्वपूर्ण सवाल उठाती हैं। एक महत्वपूर्ण सवाल आज के कार्यक्रमों के प्रचलन को लेकर है और दूसरा शिक्षक-तैयारी के समयकाल, तरीके और गति को लेकर। पहले हम दूसरे सवाल को लेंगे – यानी तैयारी-कार्यक्रमों के समयकाल, वक्त, गति और स्थान के बारे में।

शिक्षक-तैयारी का ढाँचा क्या होना चाहिए?

कार्यक्रम के समय और व्यवस्था को तीन रणनैतिक तरीकों में बाँटा जा सकता है। एक तरीका तो है कि आप शिक्षक बनने से पहले ही लगभग सब कुछ कर लें और शिक्षक के तौर पर तब ही शुरुआत करें जब आपको काम के लिए प्रमाणित कर दिया गया हो। इसका मुख्य सन्देश ये है कि व्यक्ति का सही ढंग से चुनाव करें और फिर उसे 'तैयार' और लैस करें तथा शिक्षण का लाइसेंस दे दें। यह तरीका हम भारत में प्रयोग कर रहे हैं और हाल के निर्णय इसे और अधिक बढ़ावा देने की ओर ही ले जाते हैं।

दूसरा तरीका है कि कोई शुरुआती तैयारी न हो और होने-वाले-शिक्षक को एक बहुत ही संक्षिप्त लेकिन निर्णयकारी परिचय-सत्र के बाद स्कूल में धकेल दिया जाए - और फिर उसके साथ प्रशिक्षुओं के एक छोटे समूह के हिस्से के तौर पर, एक कोच या मेन्टर (मार्गदर्शक) को लेकर काम किया जाए, या स्कूल में समय-समय पर परस्पर मेल-जोल की अन्य कार्यविधियों के माध्यम से काम किया जाए। इन अन्त:क्रियाओं में विद्यार्थी-शिक्षक द्वारा किए जाने वाले विभिन्न तरह के काम और विचार हो सकते हैं जिन्हें साझा किया जा सकता है - और जिनके बारे में रिपोर्ट किया जा सकता है। यह शिक्षक की किसी स्कूल में नियुक्ति से कुछ साल बाद तक जारी रह सकता है और फिर धीरे-धीरे इसका होना घट सकता है और कम अवधि का भी। इसके पीछे विचार यह है कि इससे शिक्षक को अपनी ही तरह संघर्ष करने वालों के साथ बात साझा करने और उनसे सीखने का अधिक मौका मिलता है। साथ ही बार-बार उस सब पर विचार करने के अवसर भी मिलते हैं जो वह दूसरों के साथ मिलकर करती रही है।

तीसरा तरीका विभिन्न अनुपातों में इन दोनों के मेल का हो सकता है। इसमें बल इस बात पर होगा कि सेवा-पूर्व कार्यक्रम को शिक्षक तैयार करने के अन्य तरीकों के साथ जोड़ने, उन्हें अनुपूरक के तौर पर इस्तेमाल करने की आवश्यकता है। इसका अर्थ होगा एक लम्बे सेवा-पूर्व कार्यक्रम के बाद किसी स्कूल में प्रशिक्षण (इन्टर्नशिप) का एक दौर और फिर परस्पर अन्त:क्रिया तथा कुछ और पाठ्यक्रमों के लिए वापसी। इसके अलावा विद्यार्थी-शिक्षक कई पाठ्यक्रमों की एक टोकरी से अपनी इच्छा से किसी भी पाठ्यक्रम का चुनाव कर सकती है और फिर उस पाठ्यक्रम से जो चाहे ले सकती है।

इनमें से दूसरे विकल्प के तहत विद्यार्थी-शिक्षक के लिए स्कूल और कक्षा में अधिक समय मिलता है। ऐसा नहीं है कि पहले विकल्प में स्कूल का अनुभव नहीं है लेकिन यह कम है - और उसका उद्देश्य और प्रक्रिया भी अलग है। ये मॉडल हमारे सामने सवाल पेश करते हैं – क्या शुरुआती शिक्षक-तैयारी का एक लम्बा समयकाल बेहतर और आवश्यक है या फिर शिक्षक के तौर पर उसका विकास इससे कहीं अधिक निरन्तरता में चलने वाली एक वैचारिक प्रक्रिया है? क्या शुरुआत में संस्था-आधारित एक छोटी अन्त:क्रिया हो

और फिर लगभग पूरा समय एक स्कूल के साथ सम्बद्ध होते हुए बीच-बीच में परस्पर अन्त:क्रिया? स्कूल-अनुभव या उसमें लीन होने (या फिर उसे हम चाहे जो कहें), का मुख्य उद्देश्य और प्रकृति क्या होने चाहिए?

क्या सेवा-पूर्व शिक्षक-तैयारी स्वावलम्बी हो सकती है?

इस सब पर काफी चर्चा और अनुसंधान हुआ है और पहले विकल्प वाले कार्यक्रम की काफी आलोचना हुई है। प्रक्रिया का प्रमाणीकरण मूलत: पहले होने और उसके बाद के समय में कुछ न होने के चलते ऐसा कोई मौका नहीं रहता कि शिक्षक शिक्षण के अनुभव के बाद कुछ विचार कर पाए। अनुभव ने दर्शाया है कि इस तरह के मौजूदा कार्यक्रम खुद अपने दम पर खड़े नहीं होते और उद्देश्य को विफल करते हैं। तर्क दिया जाता रहा है कि कक्षा और शिक्षण के पर्याप्त अनुभव के बिना पढ़ाने या पठन सामग्री का अर्थ विद्यार्थी-शिक्षकों की पकड़ में नहीं आता जबकि कुछ अन्य लोगों का तर्क है कि दोष तो विषयवस्तु की गुणवत्ता और प्रकृति का है। यह भी कहा जाता है कि स्कूल-अनुभव वैसा नहीं होता जैसा होना चाहिए और लेक्चरों के साथ उस का उपयुक्त सम्बन्ध नहीं है। हाँ, इस आवश्यकता पर सब की सहमति है कि शिक्षक अपने अनुभव साझा करें और उन पर सोचें। आवश्यकता यह भी है कि सोच-विचार के साथ-साथ पढ़ने और सैद्धान्तिक विचारों से सम्बद्ध हुआ जाए। समय-समय पर अन्त:क्रिया को फिर से ताजा करने की आवश्यकता को भी पहचाना गया है - और इसीलिए व्यापक-विस्तृत शिक्षक-तैयारी, मूल्यांकन, प्रमाणीकरण और निरन्तर सीखने (जरूरत पड़ने पर मूल्यांकन, पुन: प्रमाणीकरण) की आवश्यकता है।

शिक्षक-तैयारी के प्रोग्रामों को वर्गीकृत करने की एक और धुरी कक्षा के अनुभव तथा अवधारणात्मक चिन्तन के बीच सन्तुलन और अक्सर सैद्धान्तिक माने जाने वाले सवालों के साथ जूझने की हो सकती है।

स्कूल-अनुभव और शिक्षक-तैयारी

स्कूल-अनुभव पर पहले से अधिक दिया जा रहा बल स्वागत योग्य है। इसके बारे में कुछ नए विचार भी अब सुनने में आ रहे हैं। इनमें से कुछ सार्थक हैं जबकि अन्य ऐसे भी हैं जो कई सिद्धान्तों के विरुद्ध जाते हैं, जिनमें सफलता की सम्भावना की बात भी शामिल है। यह पहचाना जा रहा है कि शिक्षक को स्कूल में और अधिक जड़बद्ध होना चाहिए, उसे शिक्षण को पेशे के रूप में लेना चाहिए और इस तरह वास्तविक हालात के साथ आमना-सामना बढ़ना चाहिए, जैसा कि मेडिकल कॉलेजों में होता है। यह बात बहुत ही तार्किक और माने जाने लायक लगती है। लेकिन इसमें खतरे भी मौजूद हैं और काम की प्रकृति की वजह से इसे लागू न किए जा पाने की सम्भावनाएँ भी हैं और यह शायद एक तर्कसंगत उपमा होने की हद तक भी नहीं जा पाता। स्कूलों से अधिक मेल-जोल और जान-पहचान के तरीकों के बारे में और प्रशिक्षण के बड़े हिस्से को स्कूलों में ही हस्तांतरित करने के बारे में सोचा जाए, इस बारे में प्रयास किए गए हैं। सेवाकालीन प्रशिक्षणों के साथ हुए प्रयोगों से भी सेवा-पूर्व के लिए इस प्रकार के कई मॉडल निकले हैं लेकिन इनमें से किसी को भी पूरी तरह विकसित नहीं किया गया और न ही करके देखा गया है। सबसे बड़ी अड़चन विद्यार्थी-शिक्षकों की सँख्या और अच्छे मार्गदर्शकों की है। इतना ही कहना काफी है कि शिक्षक-प्रशिक्षण के नए सेवा-पूर्व कार्यक्रमों में इन्टर्नशिप के समयकाल को बढ़ा दिया गया है और शब्दों में पुन: परिभाषित भी किया गया है। यह शिक्षक-तैयारी पर चर्चाओं की वजह से हो पाया है लेकिन इन चर्चाओं की दलीलों की मूल भावना इसके डिजाइन या बुनावट में से कहीं छूट गई है।

स्कूल में अभ्यास के दौरान शिक्षक से क्या सीखने की आशा रखी जाती है, इस आधार पर उसकी भूमिका और जिम्मेदारी क्या रहेगी - इस पर पूरी तरह से विचार नहीं किया गया है। कार्यक्रम की संरचना और स्कूल के साथ उसके सम्बन्ध पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ता है। स्कूलों के साथ डाइट, शिक्षकों, कॉलेजों और अन्य संस्थाओं के सम्बन्धों के लिए भी इसके निहितार्थ हैं – और ज्ञान से सम्बद्ध श्रेणीबद्ध व्यवस्था के व्याप्त प्रभुत्व के लिए भी। आशा की जानी चाहिए कि किसी स्कूल में प्रशिक्षण का समयकाल शिक्षक-विद्यार्थी और उसके कॉलेज, दोनों के लिए स्कूल की स्थितियों से सीखने और उस अनुभव को आत्मसात करने के लिए होगा। लेकिन जिस रवैये से प्राध्यापक - और विद्यार्थी भी - वहाँ जाते हैं, उसमें शिक्षकों को यह बताने का नजरिया रहता है कि क्या करना है और कोशिश भी वह करने को कही जाती है जिसके बारे में पहले से पता है और जो सही है। ज्ञान की श्रेणीबद्ध व्यवस्था स्कूल के अनुभव को पूर्व-निर्धारित और यांत्रिक बना देती है जिससे न तो स्कूल को और न ही कॉलेज को कोई लाभ हो पाता है। विद्यार्थी-शिक्षकों या प्राध्यापकों की ओर से स्कूल की कठिनाई को समझने का और न ही उनकी मदद करने का कोई प्रयास होता है। संस्थाओं में परस्पर संवाद का सम्बन्ध बहुत ही स्पष्ट तौर पर गायब है।

सिद्धान्त: स्कूल के साथ पहले से अधिक जान-पहचान, और स्कूल में बच्चों तथा शिक्षकों का अवलोकन एक अच्छी बात हो सकती है। असल सरोकार यह है कि इस काम के लिए पर्याप्त स्कूल कैसे उपलब्ध हो पाएँ और कैसे उन्हें इस बात के लिए तैयार किया जाए कि बड़ी संख्या में विद्यार्थी एक तयशुदा साझा कैलेण्डर के तहत किसी भी समय वहाँ पहुँच जाएँ और वे सब एक ही समय पर स्कूल और कक्षा में रहना चाहें। यह स्पष्ट नहीं है कि इस

कैलेण्डर को साझा तौर पर ही निर्देशित क्यों होना है जिसके चलते सभी विद्यार्थी-शिक्षक स्कूलों में एक ही समयकाल में पहुँचते हैं? मार्गदर्शक-शिक्षकों और मुख्याध्यापकों की तैयारी लगभग नदारद होती है। अधिकतर होता यह है कि तिथियों और विद्यार्थी-शिक्षकों के क्षेत्रों के बारे में निर्णय लेने से पहले उनके साथ कोई अन्त:क्रिया नहीं होती।

स्कूल के उपलब्ध होने की समस्या और स्कूल के लिए इस अभ्यास के लाभ की बात आपस में जुड़ी हुई लेकिन पूरी तरह से एक-दूसरे को कवर करने वाली नहीं हैं। बावजूद इसके कि स्कूल इन्हें लाभदायक न पाएँ, वे अपनी सीमाओं को लाँघकर भी भावी शिक्षक-विद्यार्थियों को अनुमति देने के लिए तैयार होते हैं। लेकिन कॉलेजों की बड़ी संख्या और कक्षाओं में स्थित किए जाने के लिए आवश्यक लोगों की संख्या उनके बेहतर से बेहतर इरादे को भी परास्त कर देती है।

पाठ्यचर्या के तत्वों का निर्माण

समयकाल चाहे कितना भी हो और व्यवस्था तथा संरचना का तरीका कैसा भी, सेवा-पूर्व तैयारी के लिए महत्वपूर्ण समझे जाने वाले तत्वों में कुछ अनिवार्यताएँ तो शायद शामिल होनी ही होंगी। इसके लिए तैयारी का खाका और कक्षा हेतु शिक्षक की आवश्यक सामर्थ्य होना होंगे। ये तत्व स्कूली शिक्षा के सभी स्तरों पर मोटे रूप में एक से रहते हैं लेकिन उनका अनुपात और प्रकृति अलग-अलग कक्षा के लिए बदलता है। हम पहले विशिष्ट तत्वों पर नजर डालेंगे और फिर उन्हें व्यवहार में लाने के बारे में सोचेंगे।

सबसे महत्वपूर्ण शर्त है कि शिक्षक विद्यार्थियों को उनकी पृष्ठभूमि, आकांक्षाओं, मान्यताओं, संस्कृति और प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में समझें और उनका आदर करें। उनकी भाषा को जानें और इस्तेमाल करें, उनका तथा उनके समुदाय के ज्ञान का आदर करें। उन्हें अपने आदर्श पहचानने में मदद करें तथा और भी ऐसे आदर्श रचने में सहायक हों।

इसका स्वाभाविक अर्थ है उनके जीवन में शिक्षा की भूमिका और अर्थ को समझना; यह भी समझना कि हम सबके लिए उसका अर्थ क्या है और एक लोकतांत्रिक मानव समाज में कुछ हद तक उसकी भूमिका क्या है; संविधान की प्रस्तावना में प्रस्तुत प्रतिबद्धताओं को भारतीय सन्दर्भ में समझना और इन्हें स्कूल में सम्मिलित करने की कोशिश करना। देखने में आता है कि किसे कितने अवसर तथा नई स्थितियों से अवगत होने के मौके मिलते हैं, इस सन्दर्भ में बहुत अधिक अन्तर पाया जाता है - इस बात को ध्यान में रखते हुए जागरूक होना होगा कि सबको बराबर का स्थान और मौका प्रदान किया जाए।

तीसरा तत्व यह समझने का है कि इन्सान सीखते कैसे हैं – खासतौर से किसी विशेष आयु-समूह के बच्चे कैसे सीखते और व्यवहार करते हैं। इसमें यह समझ भी शामिल है कि ज्ञानार्जन का अर्थ क्या है। उदाहरण के लिए, ज्ञानार्जन का अर्थ केवल फिर से कुछ याद करने या कार्यपद्धतियों का अनुकरण करने की काबिलियत होना ही नहीं है। इसका अर्थ किताब में दिए गए सवालों के जवाब देने की सामर्थ्य या परीक्षा में उसके अनुसार प्रदर्शन भी नहीं है। यानी इस बात का एहसास और आभास होना होगा कि क्या सीखा जाना है; और कैसे यह अन्दाजा हो कि कक्षा में वह ज्ञानार्जन तथा उसके साथ सम्बद्ध होना हो पा रहा है या नहीं। नीतिगत एवं पाठ्यचर्या सम्बन्धी दस्तावेजों में तथा अन्यथा भी इस बारे में बहुत कुछ कहा गया है। इस बारे में बात करना आसान है मगर इसे अवधारणात्मक और फिर ठोस रूप देना मुश्किल है - व्यवहार में लाना तो और भी अधिक मुश्किल है।

चौथा तत्व है उस विषय को जानना जिसे कक्षा में पढ़ाया जा रहा है। यानी जानना कि उसे सीखना प्रासंगिक क्यों है, उसकी प्रकृति क्या है, विषय के बुनियादी ढाँचे को रूप देने वाली अवधारणाओं और उनमें अर्थ की बारीकियों एवं सूक्ष्म भेदों के बारे में विश्वस्त होना। विषय के प्रति रवैया जिज्ञासा और सहजता का होना चाहिए, विषय को जानने के घमण्ड से भरी प्रतिष्ठा के बोझ से पैदा होने वाले भय और चिन्ता का नहीं। शिक्षक में बच्चों की उस यात्रा की रूपरेखा खींचने की सामर्थ्य होनी चाहिए जिसके तहत वे समझ और सहानुभूति के साथ अवधारणाओं और विषय के अर्थ की बारीकियों और सूक्ष्मताओं को सीखते हैं। मौजूदा व्यवस्था द्वारा तैयार किया गया आज का शिक्षक इससे बहुत दूर है। तैयारी के समयकाल में यह सब कोशिश किए जाने की बात मुश्किल है, खासतौर से इसलिए कि शिक्षक कक्षा में कई विषय पढ़ाते हैं और यह भी कई चरणों में होता है। हम उनमें खोजी होने की भावना और उल्लास कैसे पैदा करें और विषयों का भय तथा उनके प्रति ऊब से कैसे बचा जाए?

इस सबका प्रयोग, बच्चों को सीखने में मदद के लिए

अन्तिम लेकिन निर्णायक कदम इस सबको बच्चों के साथ कक्षा में प्रयोग करने का है। इसके लिए ज्ञान को प्रस्तुत करने की काबिलियत, दिलचस्पी और बच्चों को व्यस्त रखना जरूरी होगा। साथ ही उनकी प्रवृत्तियों को प्रयोग में लाते हुए उनमें अर्थपूर्ण अन्त:क्रिया करवा पाना भी शामिल होगा। एक ओर उन्हें मासूम कलियों या साँचे में ढलने वाली मिट्टी की तरह मानने और दूसरी ओर दिक्कत पैदा करने वाले अनुशासनहीन बदमाशों के रूप में देखने के बीच सन्तुलन बैठाना होगा। कक्षा को वार्तालाप का स्थान बनाना होगा। दबाव-रहित तरीके से सही और गलत विचार विकसित करने में मदद देनी होगी। ऐसे विचार और मूल्य-व्यवस्थाएँ होने होंगे जिनके लिए वे तार्किक कारणों के साथ खड़े हो पाएँ।

यह बहुत ही व्यापक और समग्र बात लगती है और इस पर अक्सर बल दिया जाता है तथा इसकी चर्चा भी की जाती है। लेकिन इसे आंशिक तौर पर भी व्यवहार में ला पाना अगर नामुमकिन नहीं तो बहुत कठिन तो जरूर है। शिक्षार्थियों में और स्वयं आपस में भी ज्ञानार्जन का अर्थपूर्ण वार्तालाप निर्मित करने में मदद के लिए शिक्षक एक अनिवार्य तत्व हैं और शायद हमेशा रहेंगे। व्याख्यायित की गई क्षमताएँ कुछेक के लिए ही आवश्यक नहीं हैं। बल्कि अधिकतर बच्चों के साथ वे कुछ कर पाएँ, इसके लिए ये सभी शिक्षकों के लिए होना होंगीं।

एक शिक्षार्थी के रूप में शिक्षक का विचार और उससे अपेक्षित भूमिका

शिक्षक-तैयारी की जंग एक स्तर पर तो हमेशा न लाभ-न घाटे का खेल रहा है। आमतौर पर एक इच्छा तो यह रहती है कि हर बात का भार शिक्षक पर डाल दिया जाए और उसे इसके लिए तैयार किए जाने की अपेक्षा भी रहती है। या फिर यह दावा करने की इच्छा रहती है कि कुछ अधिक आशा नहीं रखी जाए। शिक्षक-तैयारी और प्रशिक्षण को व्यर्थ समझने वाले संशयवादियों का तर्क है कि इस पर खर्च और अधिक घटाया जाए। उन्हें लगता है कि पैसा सीधे बच्चों पर खर्च किया जाना चाहिए। उनका तर्क है कि कुछ भी हो, शिक्षक बदलेंगे नहीं। उनसे अपने सीखने-सिखाने के कार्यक्रम स्वयं तैयार करने की और शिक्षार्थियों से मिलने वाले इन्पुट्स (योगदान) की मदद से सक्रिय तौर पर अपनी कक्षा-निर्माण की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए उन्हें तो बस कुछ लाभदायक संकेत चाहिए और फिर कुछ स्पष्ट दिशा-निर्देश। स्वप्नदर्शी इसके बिल्कुल उलट विश्वास रखते हैं। लेकिन दोनों इस बात पर सहमत हैं कि वर्तमान स्थिति बहुत खराब है और शिक्षक दोषी हैं। कोई भी सूक्ष्मभेदी विश्लेषण मौजूदा व्यवस्था के साथ संघर्ष की असमर्थता के कारण सीमित और तंग रह जाता है। सम्पूर्ण शिक्षक-तैयारी और उसमें भी विशेष तौर पर सेवा-पूर्व तैयारी इस बात पर निर्भर करती है कि हम शिक्षकों को कैसे समझते हैं और बच्चों को सिखाने के लिए उपयुक्त होने के सन्दर्भ में हम उनके बारे में क्या सोचते हैं। इसका प्रभाव इस बात पर भी पड़ेगा कि हमारे विचार से उनकी सामर्थ्य को बनाने के लिए क्या किया जाना चाहिए और यह कैसे किया जाए।

शिक्षक को एक 'ईश्वर जैसा' समर्थ व्यक्ति मानने वाला, यथार्थ से कटा हुआ, मनोविदलित दृष्टिकोण (schizophrenic) तथा उन्हें एक श्रेणी और व्यक्ति के तौर पर अनादर एवं तिरस्कार की नजर से देखने का नजरिया व्यवस्था के साथ शिक्षक के सम्बन्ध को गड़बड़ा देता है। उनके तैयारी-कार्यक्रम को इस बात पर स्पष्ट होना चाहिए कि परिप्रेक्ष्य क्या है और ध्यान के केन्द्र में क्या है। क्या हम इस कार्यक्रम को इस मान्यता पर आधारित करें कि शिक्षक (और इसलिए शिक्षक-अध्यापक भी) शिक्षार्थी हो सकते हैं? और वे चाहे अलग-अलग कार्यविधियों और रणनीतियों का ही अनुकरण क्यों न करें, इन्हें जीवन, समाज, ज्ञान और शिक्षा की उनकी समझ के आधार पर शिक्षकों द्वारा स्वयं विकसित किया जाना चाहिए? या फिर कार्यक्रम इस निर्णय पर आधारित हो कि अनुसरण के लिए विस्तृत प्रोग्राम दिया जाए और फिर उसमें बदलाव की बहुत ही कम या बिल्कुल भी गुंजाइश न हो या उसे ढालने के लिए भी कोई प्रयास न हो?

यही हमें शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं में होने वाले आदान-प्रदान की प्रकृति तक भी ले आता है। अगर शिक्षण मात्र अल्गोरिदम (यानी प्रतीक-गणित) नहीं है और शिक्षा वार्तालाप-आधारित आदान-प्रदान की प्रक्रिया है और अगर सीखने वाले तब ही सीखते हैं जब शिक्षक भी उस प्रक्रिया में संलग्न हो और सीख रहा हो, तो प्रक्रियाओं में यह सब कुछ झलकना चाहिए। शिक्षक उसी रवैये को प्रतिबिम्बित करेंगे जिसका बोध उन्हें शिक्षार्थी के रूप में हुआ था। ऐसा नहीं है कि उन्हें कुछ भी बताए जाने की आवश्यकता न हो या उन्हें खुद से अधिक बेहतर सीखे हुओं के साथ अन्त:क्रिया के माध्यम से सीखने की जरूरत न हो। हम यहाँ 'रचनावादी' या आत्म-विकास की शिक्षक-तैयारी योजना की बात नहीं कर रहे हैं। हम इस सबमें दो स्थितियों के बीच सन्तुलन की बात कर रहे हैं – एक ओर तो यह आवश्यकता कि शिक्षक चिन्तनशील, हर पल और हर बात में नई रणनीतियाँ और कार्य/स्थितियाँ/तरीके/गतिविधियाँ रचने वाला हो तथा दूसरी ओर उसे इस रूप में देखा जाना कि वह सीखने, कोशिश करने, स्वयं सोचने को तैयार और जिज्ञासु नहीं है। इसके लिए एक और सन्तुलन की भी जरूरत है। यानी एक ओर तो सीखने-सिखाने का सैद्धान्तिक ढाँचा विकसित किया जाए; तथा दूसरी ओर अनुभव करने और समझने के मकसद से स्कूलों और बच्चों के साथ व्यावहारिक पहलुओं को विकसित करने की बात हो – और इन दोनों स्थितियों के बीच सन्तुलन हो। तर्क दिया जाता है कि शिक्षकों को सिद्धान्त की जरूरत नहीं है क्योंकि उससे कोई मदद नहीं मिलती, और उन्हें तो अलग-अलग तरह के बच्चों के साथ व्यवहार के तरीकों की और विभिन्न स्थितियों में निर्देशानुसार करने वाले कामों की सूची की जरूरत रहती है। यह सिद्धान्त की गलत और असंगत समझ दर्शाता है जिसके तहत सिद्धान्त को बस वर्णित किए जाने वाले तथ्यों के रूप में देखा जाता है। सेवा-पूर्व पाठ्यक्रम और उसको लागू किए जाते समय ध्यान में रखना होगा कि वह उन सिद्धान्तों के अनुरूप हो जिनमें उसका विश्वास जतलाया गया है और उन्हें असल व्यवहार के प्रत्येक तत्व में प्रयोग भी किया जाए।

क्या हमें इतने कॉलेजों की आवश्यकता है?

महत्व का एक और मुद्दा सेवा-पूर्व प्रमाण-पत्र के उद्देश्य और अर्थ का है। इसके बारे में सोचना इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि प्रमाण-

पत्र उस सबको प्रभावित करता है, जो शिक्षकों के कॉलेजों में होता या नहीं होता है। यह सीखे और सिखाए गए के मूल्यांकन को भी प्रभावित करता है। पाठ्यक्रम में कितना और किस हद तक अच्छा प्रदर्शन रहा, यह विद्यार्थी के लिए कितना मूल्यवान है, इसके मूल्यांकन को भी यह प्रभावित करता है। आजकल विद्यार्थियों और शिक्षक-शिक्षकों को यह बात करते हुए सुनना आम बात हो गई है कि उक्त विशेष कॉलेज में कक्षाएँ नहीं लगतीं और कॉलेज में उपयुक्त संख्या से बहुत कम शिक्षक हैं। खुल रहे कॉलेजों तथा उनमें हो रही नियुक्तियों को ध्यानपूर्वक बनाई गई कमेटियों और जाँचों के माध्यम से संचालित और नियंत्रित करने की शिक्षक-शिक्षा राष्ट्रीय परिषद (एन.सी.टी.ई.) द्वारा की गई कोशिशें असफल ही रही हैं – बल्कि उनका उल्टा ही असर पड़ा है।

कॉलेजों की माँग तथा आवश्यकता और इनके लिए दी गई अनुमति में कोई सामंजस्य, कोई सुसंगति दिखाई नहीं देती और कई राज्य सरकारों को लगता है कि नए कॉलेज खुलने से सम्बद्ध फैसले लेने में उन्हें अनदेखा किया गया है। एन.सी.टी.ई. की भूमिका की वजह से राज्य सरकारें तथा विश्वविद्यालय पथभ्रष्ट निजी शिक्षक-कॉलेजों के विरुद्ध उस हद तक कोई कदम नहीं उठा पाते जिस हद तक वे चाहते हैं। एन.सी.टी.ई. के पास अनुमतियों के अनुमोदन तथा संस्थागत ढाँचे और शिक्षकगण की आवश्यकताओं समेत विभिन्न तरह के दिशा-निर्देश तय करने की जिम्मेदारी है। वहीं कार्यक्रम का समयकाल, उससे आशाओं की प्रकृति एवं आकलन के साथ-साथ पाठ्यचर्या सम्बन्धी सरोकार इन्हीं में से कई बातों पर निर्भर रहते हैं।

क्या आकलन अर्थपूर्ण होता है?

सेवा-पूर्व प्रशिक्षण को इम्तिहान पास करने और आवश्यक प्रमाण-पत्र हासिल करने तक सीमित कर दिए जाने के बहुत ही डरावने नतीजे रहे हैं। ऐसा लगता है कि जितने अधिक प्रयास शिक्षकों की गुणवत्ता को यांत्रिक तथा निरीक्षण-आधारित तौर-तरीकों से संचालित करने के हुए हैं, अपेक्षित शिक्षकों की ओर से असल में सीखने की उतनी ही कम कोशिश हुई है। इन पाठ्यक्रमों के लिए विश्वविद्यालयी परीक्षाएँ भी बाकी सभी पाठ्यक्रमों की ही तरह परीक्षार्थी के वास्तविक ज्ञानार्जन और समझ का मूल्यांकन करने के लिए निर्मित नहीं हैं। प्रश्नों की प्रकृति - असल में तो प्रश्न ही – अक्सर पूर्व-निर्धारित होते हैं और उत्तर, सोचने की किसी आवश्यकता से खाली। मूल्यांकन भी यह सुनिश्चित करने के लिए होता है कि अधिकतर परीक्षार्थी परीक्षा में पास हो जाएँ। पाठ्यक्रम की प्रकृति को ध्यान में रखें तो चयन की प्रक्रिया में परीक्षार्थी से उसके बी.एड. के अनुभव और उसमें आए अंकों के बारे बहुत कम आशा की जाती है। कई परीक्षार्थी दोनों परीक्षाओं (थ्योरी यानी सिद्धान्त और तथाकथित कक्षा-शिक्षण) में अव्वल हो निकलते हैं लेकिन यदि वे ऐसा नहीं भी कर पाते, तो चयन की असल प्रक्रिया में इसका कुछ महत्व नहीं होता। यह लगभग पक्की बात है कि अगर आपको बी.एड. प्रोग्राम में प्रवेश मिल जाता है, तो विश्वविद्यालय और उसकी कार्यविधियाँ चाहे जैसी भी हों, आप पास हो जाएँगे और आपको प्रमाण-पत्र भी मिल जाएगा, फिर आप या आपका कॉलेज चाहे जो भी करे। इस सन्दर्भ में हाल ही में बी.एड. पाठ्यक्रम को दो साल का किए जाने के निर्णय के कई दिलचस्प परिणाम और प्रभाव होंगे। ये अगले कुछ दशकों में देखने को मिलेंगे और तब स्पष्ट होगा कि इस बहुत बड़े निर्णय से लाभ मिलते भी हैं तो क्या मिलते हैं।

सार-संक्षेप

सेवा-पूर्व तैयारी और वास्तव में तो होने-वाले-शिक्षकों या कार्यरत-शिक्षकों के साथ किसी भी महत्व के आदान-प्रदान का सवाल, एक मनोवृत्ति, एक प्रवृत्ति, और एक प्रतिबद्धता तथा एजेंसी की तैयारी का सवाल है। स्पष्ट तौर पर मनोवृत्ति बहुआयामी है और इसमें सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक संरचना के तईं दृष्टिकोण और संविधान को लागू किए जाने की आवश्यकता के तत्व शामिल हैं। इसके अन्य पहलू हैं शिक्षार्थियों और समुदाय के प्रति दृष्टिकोण, जबकि हर तरह की विविधताओं का भी ध्यान रखना होगा जो लोगों में जबरदस्त विभाजनों से, कभी-कभी वैर-भाव, उदासीनता, तिरस्कार, उपहास, यहाँ तक कि सीधी-सीधी शत्रुता से प्रभावित होती हैं। हम क्या करें कि शिक्षक अपने सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया तथा विविधता की मौजूदा निर्मिति, प्रकृति और कारणों को भूल जाएँ, दूसरों के प्रति आदर की भावना को स्वयं में समाहित करें और उन्हें अपनी रणनीतियों में लाने के तरीके भी पा सकें। हम कैसे उन्हें बहुत ही भिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषाई, आर्थिक पृष्ठभूमियों तथा शैलियों से आने वाले शिक्षार्थियों के साथ जूझने के तईं प्रतिबद्ध और समानुभूति रखने की भावना से परिचित करवा पाएँ? वे यह कोशिश क्यों करें? तो फिर सवाल यह है कि कैसे हम सही दृष्टिकोण और उद्देश्य वाले तथा संविधान की प्रतिस्थापना से निकलने वाले सिद्धान्तों के साथ पंक्तिबद्ध होते हुए इनकी प्राप्ति के लिए काम करने वाले शिक्षक तैयार करें और उनकी भूमिका के दीर्घकालिक योगदान को देख पाएँ? क्या इसके लिए हमें इस बात को फिर से देखना होगा कि समाज और प्रशासनिक व्यवस्था शिक्षकों को किस तरह देखते हैं?

References:

- Report of the International Conference on Teacher Development and Management held in Udaipur, 23-25 February, 2009 Report of international conference on Teacher Development and Management. (2009) Retrieved from http://www.teindia.nic.in/Files/TE-Vikram/International Conference/International_Conference_Teacher Development-Udaipur-23-25-feb-2009.pdf
- Report of the International Seminar on Pre-Service Elementary Teacher Education Feb 2, 2010 held at NCERT, New Delhi, Ministry of Human Resource Development (MHRD)
- Joint Review Mission of Teacher Education (2013) Retrieved from http://www.teindia.nic.in/Files/jrm/JRM_Reports/JRM_Chhattisgarh-Final.pdf
- Andhra Pradesh Joint Review Mission on Teacher Education February 2014
- www.teindia.nic.in/Files/jrm/2014-15/AP/APReport.pdf

हृदयकांत दीवान वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय,बेंगलूरु में प्रोफेसर हैं। वे 'एकलव्य' के संस्थापक समूह के सदस्य हैं और उदयपुर की विद्या भवन सोसायटी के शैक्षिक-सलाहकार रहे हैं। वे पिछले 40 सालों से शिक्षा के क्षेत्र में कई तरह से कार्यरत रहे हैं। विशेषतौर से शिक्षा में नवीनता और राजकीय शैक्षिक ढाँचों में परिवर्तन के प्रयासों से सम्बद्ध रहे हैं। उनसे hardy.dewan@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : रमणीक मोहन